पुरुष सूक्त की ये कथा लम्बी और पुरानी है; इससे एक सबक आसानी से सीखा जा सकता है कि जब हम किसी व्यवस्था का आधार किसी पुस्तक विशेष में मानते हैं तो वो उन सब बातों को भुलाकर जो उसकी विरोधी हैं जो हम कहना चाहते हैं। कुरान और बाइबिल के बारे में ये बात जितनी सच है उतनी ही वेद के बारे में भी। इन ग्रन्थों की ही बात नहीं, ये मार्क्स, लॉक और जेम्स मिल के बारे में भी उतनी ही सच है जितनी कि उन परंपराओं के बारे में जो अपना स्रोत किसी ग्रन्थ विशेष में ढूँढ़ती हैं। कितने झगड़े हुये हैं इस बात को लेकर कि मार्क्स ने जो कहा उसका अर्थ क्या था। यही बात उन विचारक और ग्रन्थों के बारे में भी है जिनको हम प्रजातंत्र कहे जाने वाले चिंतन का आधार मानते हैं। यही नहीं, जो लोग 'Reason' या Rationality की बात करते हैं उन्हें भी यह मुसीबत होती है कि अरस्तू ने इसके बारे में क्या कहा। व्लेग्म के बारे में प्लेटो ने रिपब्लिक में क्या कहा। जब तक हम ग्रन्थों को और उनके लिखने वालों को नहीं भुला देंगे और समस्या पर सीधी बात नहीं करेंगे तो यही कहेंगे कि वेद ने क्या कहा है या किसी और ग्रन्थ ने या उसके लिखने वाले ने क्या कहा है, तब तक हम अपनी बुद्धि को बेचकर या गिरवी रखकर ऐसे ही झगडों में पड़े रहेंगे।

❑

दार्शनिकों के तर्क : न प्रत्यक्ष, न अनुमान, न शब्द, न उपमान

दार्शनिक चिन्तन बुद्धिनिष्ठ है और उसका केन्द्रबिन्दु तर्क है। तर्क के सहारे ही दार्शनिक चिन्तन बढ़ता और पनपता है। लेकिन तर्क के स्वरूप को शायद उस तरह से समझा नहीं गया है जैसे उसे समझना चाहिए। तर्क न अनुमान है, न प्रत्यक्ष, न शब्द है, न उपमान, और न उसमें प्रमाण है, उस अर्थ में जिस अर्थ में 'प्रमाण' शब्द का प्रयोग किया जाता है। तर्क क्या है और दार्शनिक चिन्तन में वह अपने किस रूप में प्रकट होता है, जब तक हम इसको नहीं समझेंगे तब तक 'दर्शन' को शायद ही समझ पायेंगे। दर्शन के इतिहास को लें तो उसमें तर्क के अनेक रूप मिलते हैं, जिन पर अगर ध्यान से सोचें तो हमारे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहेगा। उदाहरण के लिए पश्चिमी दर्शन के इतिहास के प्रारम्भ में दो तर्क मिलते हैं जिनको तर्क कहना साधारण आदमी को ही नहीं बल्कि विद्वानों को भी बहुत अजीब लगेगा।

पहला तर्क कुछ इस प्रकार का है–''अगर 'सत्' है और देश है तो वह सर्वव्यापक होगा ही। ऐसे रिक्त स्थान की कल्पना करना जहाँ वह नहीं है, असम्भव है। और अगर कोई रिक्त स्थान है ही नहीं तो न अनेकता हो सकती है न गति। लेकिन हमें अनेक अलग-अलग पदार्थ दिखाई देते हैं और परिवर्तन और गति भी सबको सहज रूप में दिखायी देती है। तब यदि हमारा तर्क ठीक है तो यह जो प्रत्यक्षानुभूत होता है वह असत् है, यानि सत्य हो ही नहीं सकता। गति और नानात्व असंभव हैं, चाहे आपको वे कितने ही वास्तव लगें।'' यह तर्क पारमेनिडीज़ के नाम से जोड़ा जाता है। लेकिन तर्क अपने आप में स्वतन्त्र है, उसको किसी के नाम से जोड़ने की ज़रूरत नहीं है। इस तर्क पर चिन्तन करने पर दर्शन के स्वरूप का आपको कुछ आभास मिलेगा, चाहे वह कितना ही 'क्षीण' क्यों न हो।

इसी तरह का एक अन्य तर्क ज़ीनो के नाम से सम्बन्धित है। वह तर्क भी अजीब प्रकार का है। उस तर्क के अनेक रूप हैं लेकिन उसके एक रूप को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है–

गति का अर्थ है–''वहाँ होना जहाँ वह नहीं है, क्योंकि यदि कोई चीज वहीं है जहाँ वह है तो उसे गतिशील नहीं कहा जा सकता। लेकिन कोई चीज़ वहाँ हो ही नहीं सकती जहाँ वह नहीं है, और अगर ऐसा हो ही नहीं सकता तो गति असंभव है।''

ऐसा नहीं है कि इस प्रकार के तर्क पश्चिम में ही मिलते हैं। जहाँ भी दर्शन है वहाँ इस प्रकार के तर्क मिलते हैं। भारत में ही लीजिए, यहाँ क्या ऐसे तर्कों की कमी है? 'नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सत:।' **गीता** की यह प्रसिद्ध उक्ति गीता से पहले हज़ारों बार दोहराई जा चुकी थी। जो सत् है वह कभी असत् नहीं होता और जो असत् है वह कभी सत् नहीं हो सकता। इसलिए अगर किसी को ऐसा अनुभव होता है कि जो था अब नहीं है, या जो नहीं था वह अब विद्यमान है, तो वह भ्रम में है, उसका ज्ञान मिथ्या है। पर ऐसा मानने पर तो सारा अनुभव, सारा जगत्, जो कुछ भी हम देखते हैं, सुनते हैं, सब असत् कहा जायेगा। किन्तु तर्क देने वाले को और सुनने वाले को इससे कोई मतलब नहीं। उसने तो कह दिया 'नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सत:' और उसके कहने के बाद हज़ारों लोग इसको दोहराते हैं, विद्यार्थियों को पढ़ाते हैं और समझते हैं कि वे उनको कोई उच्च कोटि का ज्ञान दे रहे हैं। इसी का एक अन्य रूप लीजिए, वह भी भारतीय दर्शन में अनेक रूप लेकर अनेक बार मिलता है। ''जो नित्य है, शाश्वत है, चिरन्तन है वही सत् है, जो अनित्य है, परिवर्तनशील है, क्षणभंगुर है, वह असत् है, मिथ्या है, दोषपूर्ण है, हेय है, त्याज्य है।'' यह बात बौद्धों के लिए उतनी ही सत्य है जितनी उनके लिए जो बौद्ध नहीं कहे जाते हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो 'निर्वाण' की तलाश किसे होती? संसार से बुद्ध और उनको मानने वाले लाखों करोड़ों लोग विमुख क्यों होते ?

इस प्रकार का तर्क और चिन्तन साधारणत: 'अद्वैत' के नाम से जुड़ा है, पर वास्तव में ऐसा नहीं है। नित्य और अनित्य के भेद की बात वात्स्यायन अपने **न्यायभाष्य** में करते हैं और न्याय दर्शन में तो नित्य पदार्थों की अलग से चर्चा भी है, सांख्य में भी नित्य पुरुष और प्रकृति की बात है और इसी प्रकार दूसरे दर्शनों में भी है। लेकिन जहाँ भी भेद के संदर्भ में मिथ्या ज्ञान की चर्चा की गयी है वहाँ केवल एक ही प्रकार के नित्य ज्ञान को सत्य माना गया है और वह आत्मा सम्बन्धी ज्ञान है। बाकी नित्य पदार्थों को मानने वाले दर्शनों में उनके ज्ञान विशेष के सम्बन्ध में उन्हें न कोई रुचि है, न उनके सम्बन्ध में मिथ्या ज्ञान के बारे में कोई परेशानी।

तर्क का एक और रूप लें जो भारतीय परम्परा में भी मिलता है और पश्चिमी परम्परा में भी–जो कुछ भी हम जानते हैं वह एक ओर तो इन्द्रिय-सापेक्ष होता है और दूसरी ओर बुद्धि-सापेक्ष और तीसरी ओर वह उस विषय या वस्तु से सम्बन्धित होता है जिसके बारे में वह ज्ञान कहलाता है। अब अगर ऐसा है तो

विषय या वस्तु का जो अपना स्वरूप है वह हमारी इन्द्रियों और हमारी बुद्धि से स्वतन्त्र रूप में कभी जाना ही नहीं जा सकता, क्योंकि हमारे पास उसको ऐसा जानने का कोई साधन ही नहीं हो सकता। इस प्रकार विषय या वस्तु का जो 'स्व-रूप' है वह कभी जाना ही नहीं जा सकता, क्योंकि 'जानने' का अर्थ ही यह है कि वह अपने-आप में 'ज्ञान-सापेक्ष' है। यह बात पश्चिमी दर्शन में कान्ट के नाम से जुड़ी है और एक अन्य प्रकार से लॉक के नाम से। लॉक इसको इस प्रकार से रखता है कि जो भी ज्ञान है वह केवल 'गुण-मात्र' का ही हो सकता है और जो गुणों का आधार है उसका अपना ज्ञान कभी भी नहीं हो सकता, क्योंकि उसके ज्ञान का अर्थ ही यह होगा कि हम उसको उस रूप में जानें जैसा वह उन गुणों से पूर्णत: स्वतन्त्र रूप से है। लॉक ने इसको अपनी प्रसिद्ध उक्ति 'नो-नॉट ह्वाट' कहकर बताने की कोशिश की थी और यही बात कान्ट ने 'थिंग इन इट्सेल्फ' कहकर कहने की कोशिश की।

इसी का एक अन्य रूप अद्वैत वेदान्त में मिलता है जहाँ उसको 'सोपाधिक' और 'निरुपाधिक' ज्ञान कहकर बताने के कोशिश की गयी है और यह कहा गया है कि जो भी सोपाधिक है वह ऐसा होने से ही मिथ्यात्व का रूप लेता है। कान्ट, लॉक और शंकर में भेद ज़रूर है पर तर्क की दृष्टि से देखें तो गहरा साम्य भी है, और तीनों एक सीधा-साधा सवाल अपने से नहीं पूछते। वह सवाल यह है कि मनुष्य का ज्ञान कैसे होता है? शरीर का ज्ञान कैसे होता है? इन्द्रियों का ज्ञान कैसे हाता है? बुद्धि का ज्ञान कैसे होता है? और अगर यह भी 'ज्ञान' है तो उस ज्ञान के विषयों के 'स्वरूप' को आप कैसे जान सकते हैं? और अगर यह मानें कि इनके स्वरूप का सही ज्ञान हो सकता है तो फिर उनको यह मानना पड़ेगा कि ज्ञान के कुछ विषय ऐसे हैं जिनके स्वरूप का सत्य ज्ञान हो सकता है और कुछ अन्य ऐसे जिनके स्वरूप का सत्य ज्ञान नहीं हो सकता। पर, फिर इस भेद का आधार क्या होगा?

दर्शन के इतिहास में एक अन्य तर्क सहज रूप में सब ओर मिलता है जिसका स्वरूप यह है कि 'जो आत्म-व्याघाती है, या जिसमें दो परस्पर विरोधी गुण एक साथ परिलक्षित होते हैं, या जहाँ दो परस्पर विरोधी बातें एक साथ सत्य दिखाई देती हैं, वह हमेशा अनिवार्यत: असत् है, मिथ्या है, झूठ है, गलत है। अंग्रेज़ी में इसको सेल्फ कंट्राडिक्शन का नाम दिया गया है और अरस्तू ने इसको चिन्तन या विचार का मूलभूत नियम माना है। इस तर्क का स्वरूप कुछ-कुछ प्रारम्भ में जो तीन तर्क दिये गये थे उनमें परिलक्षित या प्रतिबिम्बित होता है और सारे दर्शन का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि अगर किसी प्रत्यय में, या वस्तु के विचार में, या विषय के चिन्तन में आप उसको आत्म-व्याघाती दिखा दें तो उससे ही यह सिद्ध हो जायेगा कि वह पूर्णत: असत् या मिथ्या है। ऐसा सिद्ध हो जाने से दार्शनिक के अपने 'व्यवहार' पर या जीवन पर कोई फर्क नहीं पड़ता

और उसे न इस बात पर कोई अचम्भा होता है, न आश्चर्य, शर्म आने की बात तो दूर की है। भारतीय दर्शन में व्यवहार और परमार्थ का भेद, संवृति सत्य और परमार्थ सत्य का भेद सर्वविदित है, और वेदान्ती हों या बौद्ध सभी इसके सहारे ही सबको 'असत्' ठहराने में कोई बाधा महसूस नहीं करते।

पश्चिमी दर्शन को लें तो वहाँ स्थिति कोई इससे बेहतर नहीं मिलती। बर्कले यह सिद्ध करने के बाद कि वस्तु या विषय का चेतना-निरपेक्ष होना आत्मव्याघाती है, इस बात को मानने में कोई संकोच अनुभव नहीं करता कि अगर विश्व मेरी चेतना से स्वतन्त्र दिखाई पड़ता है तो वह किसी अन्य ऐसी सार्वभौम चेतना का विषय होगा जिसे ईश्वर कहा जा सकता है। क्योंकि वस्तु का चेतना के आश्रित होना परिभाषा से ही अनिवार्य है।

लेकिन बर्कले ने यह नहीं पूछा कि चेतना जब स्वयं विषय रूप में उपस्थित होती है तो क्या वह किसी अन्य चेतना पर आश्रित होती है? और अगर ऐसा है तो वह ईश्वर के लिए भी उतना ही सत्य होगा जितना मनुष्य के लिए। उसने एक भेद अवश्य किया था जो भेद 'आइडिया' और 'नोशन' के नाम से जाना जाता है। लेकिन यह भेद अन्य मनुष्यों के ज्ञान से सम्बन्धित है न कि अपनी चेतना के ज्ञान से। बर्कले के लिए विषय-वस्तुओं का ज्ञान और अन्य चेतनाओं का ज्ञान मूलत: भिन्न है और उसी को उसने इस भेद से दर्शाने की कोशिश की थी। लेकिन इस भेद को मानने पर उसके मूलभूत सिद्धान्त 'एस्से एस्ट पर्सिपी' (विज्ञप्ति ही सत् है) पर क्या फर्क पड़ता है, इस पर न उसने सोचा न उसके व्याख्याकारों ने।

इस तर्क का एक अन्य रूप शंकर के अद्वैत वेदान्त में मिलता है जहाँ चेतना के विषय-रूप ज्ञान को उतना ही मिथ्या माना गया है जितना किसी अन्य वस्तु के विषय-रूप ज्ञान को। लेकिन अगर चेतना स्वयं को भी नहीं जानती, अनुभव भी नहीं करती, तब फिर आनन्दमय कोष का क्या होगा? जड़ और चेतन में भेद किस आधार पर होगा? आनन्द की बात करते-करते वेदान्ती नहीं अघाते और साथ ही वे आत्मा में न कोई उपाधि मानते हैं न कोई विषय-रूप अनुभूति या ज्ञान।

बार-बार दार्शनिक अपने आपको इस मूलभूत बौद्धिक संकट में फँसा पाता है कि या तो वह अनवस्था दोष में फँसे या चक्रक दोष में। इन दोनों को अंग्रेज़ी में इन्फिनिट रीग्रेस और पिटीश्यो प्रिंसिपाई या आर्गुमेंट इन सर्कल कहा जाता है। दोनों दोष बुद्धि को स्पष्ट 'दोष-रूप' में दिखाई देते हैं, लेकिन उससे बचने का कोई रास्ता भी उसे समझ में नहीं आता! ईश्वर की सिद्धि के लिए एक तर्क हमेशा दिया जाता है कि सृष्टि का कोई स्रष्टा होना चाहिए, कार्य का कोई कारण होना चाहिए। परन्तु तब स्रष्टा का भी कोई 'स्रष्टा' होना चाहिए और कारण का भी कोई कारण होना चाहिए! लेकिन यह शृंखला तो अनन्त है, कब रुकेगी और अगर रुकेगी ही नहीं तो फिर प्रारम्भ कैसे होगी? इस कठिनाई से बचने के लिए सीधा-सीधा तरीक़ा यह है कि हम सृष्टि को स्वत:सृष्ट मान लें। तब कार्य के

कारण की खोज करने की कोई आवश्यकता नहीं। और अगर कोई यह कहे कि सृष्टि के अन्दर जो घटनायें घटित होती हैं उनके संदर्भ में कार्य-कारण की बात करना सार्थक है परन्तु समूचे ब्रह्माण्ड या सृष्टि के संदर्भ में उसकी बात करना निरर्थक है तो सीधा-साधा सवाल यह उठता है कि इस 'समूचे ब्रह्माण्ड' का क्या अर्थ होगा?

कांट ने इस समस्या का एक समाधान देने की कोशिश की थी जो दर्शन के इतिहास में बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाता है। उसका कहना था कि कालक्रम कोई वास्तविक प्रदत्त सत्य नहीं है बल्कि हमारे अनुभव के अनुभव होने की एक पूर्वापेक्षा है। पर अगर कांट की बात मान भी ली जाये तो भी सवाल वैसा का वैसा ही रहता है। क्योंकि समस्या इस बात से नहीं उठती कि काल 'प्रदत्त' है या 'पूर्वापेक्षा' बल्कि इस बात से उठती है कि काल 'काल' है। काल के प्रत्यय में ही वह अन्तर्विरोध है जो समस्या को उत्पन्न करता है। एक ओर काल उन अनन्त क्षणों की शृंखला का नाम है जिसका न कोई आदि है न अन्त, और जो इस प्रकार विभाज्य है कि उसके विभाजन का भी कभी अन्त नहीं हो सकता। यह कुछ-कुछ उसी प्रकार की समस्या है जो देश के सम्बन्ध में भी उपस्थित होती है। लेकिन काल के सम्बन्ध में यह समस्या एक और रूप लेती है, कि उसमें क्षणों का सह-अस्तित्व हो ही नहीं सकता। एक क्षण के नष्ट होने के बाद ही दूसरा क्षण उत्पन्न हो सकता है। पर यह बात न कांट ने देखी है न किसी और ने कि 'दूसरा' क्षण तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि विभाजन की प्रक्रिया में ही यह निहित है कि हम कभी भी, सिद्धान्तत: ही, 'दूसरा' क्या है इसका निर्णय कर ही नहीं सकते। गणित में जिसको 'रेशनल नम्बर' या 'रेशियो' कहते हैं उसमें यह बात अनिवार्यत: निहित है। इसके बाद संख्याओं से जो समस्याएँ उत्पन्न होती हैं उनकी चर्चा यहाँ करने की ज़रूरत नहीं है। लेकिन संख्याओं का वह रूप जिसको 'इर्रेशनल' और 'इमेजिनरी' कहा जाता है, उसकी यहाँ याद दिलाना ज़रूरी है।

यही नहीं, दार्शनिक दृष्टि से जो समस्या इससे भी अधिक गहरी है वह यह है कि अगर 'काल' अनन्त क्षणों की एक ऐसी सतत् प्रवाहमान शृंखला है जिसमें एक क्षण के नष्ट होने पर ही दूसरा क्षण उत्पन्न होता है, तो उसका ज्ञान कभी भी कैसे हो सकता है? काल के 'काल' होने का ज्ञान ही उसके 'काल' होने को नष्ट करता है, क्योंकि हम कभी भी यह कैसे जान सकते हैं कि जो क्षण नष्ट हुआ है वह किसी न किसी रूप में अब भी 'सत्' है और वह उससे 'पूर्व' था जो अब है? कांट ने इस समस्या को देखा ज़रूर था और यह कहने की कोशिश की थी कि चेतना का काल से जो सम्बन्ध है उसमें उसका जो काल के बारे में ज्ञान है वही यह सिद्ध करता प्रतीत होता है कि उसमें (चेतना में) कुछ ऐसा है जो काल से परे है और उसके आधार पर ही काल में वह समग्रता और एकता उत्पन्न होती है जिसके द्वारा उसका ज्ञान सम्भव होता है। पर अगर चेतना देश और काल दोनों से

परे है तो फिर उस सबके ज्ञान का जो अनिवार्यत: देश और काल में उपस्थित है, या उसके रूप से रचित या रूपायित है, क्या होगा? ये सब दार्शनिक तर्क से उत्पन्न समस्याएँ हैं।

दार्शनिक तर्क के अनेक रूप हैं। यहाँ एक और रूप पर ध्यान दें तो शायद हमको दर्शन के उस 'स्व-रूप' का पता चलेगा जिसका साधारणत: हमें आभास तक नहीं हो पाता। यह तर्क आधुनिक आंग्ल दार्शनिक युग के प्रारम्भ में मूर द्वारा दिया गया था। तर्क यह था कि किसी भी प्रत्यय का क्या कभी भी कोई लक्षण दिया जा सकता है? क्योंकि लक्षण देने का अर्थ ही यह है कि जिसका लक्षण दिया जा रहा है उसको किसी अन्य लक्षण में पूर्ण रूप से समाहित करके परिभाषित करें। कहने का अर्थ यह है कि जब भी हम किसी बात को समझने की कोशिश करते हैं तो वह कोशिश यही होती है कि वह चीज़ वैसी नहीं है जैसी हमें दिखाई देती है, उसको अन्य उन 'चीज़ों' के द्वारा पूर्ण रूप से समझा जा सकता है जिनको हम पूर्ण रूप से 'जानते' हैं। परिभाषा देने का अर्थ ही यह है। लेकिन क्या कभी ऐसा हो सकता है?

लेकिन ऐसा तो रोज़ होता है और मनुष्य की बुद्धि यह हमेशा से करती आयी है। लक्षण की खोज करना, 'परिभाषा देना', बुद्धि का ही कार्य माना गया है। फिर मूर ने ऐसा क्या तर्क दिया जो उसकी दृष्टि में उस बुद्धि के मूलभूत कार्य की असंगति बताता है?

मूर का तर्क सीधा है कि अगर कोई किसी भी चीज़ की परिभाषा करता है तो उस परिभाषा का रूप अनिवार्यत: यही होता है कि ''यह 'यह' है'', जहाँ दूसरा 'यह' पहले 'यह' से भिन्न होता है। अब अगर परिभाषा वास्तव में परिभाषा है तो दूसरे 'यह' की जगह आप हमेशा पहला 'यह' रख सकते हैं। लेकिन ऐसा करते ही आपका वाक्य अर्थहीन हो जायेगा। किन्तु उसका रूप तो यही होगा कि ''यह, यह है'', जहाँ दूसरे 'यह' और पहले 'यह' में कोई भेद नहीं है।

अर्थ होने के लिए जिसकी परिभाषा दी जा रही है और जिसके द्वारा उसको परिभाषित किया जा रहा है उसमें 'भेद' होना चाहिए, लेकिन परिभाषित करने का अर्थ ही है कि उनमें ऐसा कोई भी भेद कभी भी नहीं हो सकता। अब परिभाषा अगर वास्तव में परिभाषा है तो वह सदैव 'अर्थ-हीन' होगी और अगर वह अर्थ-हीन है तो उसको 'परिभाषा' कहने का कोई अर्थ ही नहीं है। मूर ने यह तर्क एक विशिष्ट संदर्भ में दिया था जिसमें उसने 'गुड़' की परिभाषा की बात की थी और यह कहा था कि यह प्रत्यय उन मूल प्रत्ययों में से है जो अपने-आप में अपरिभाषेय हैं, जिनकी कोई परिभाषा सिद्धान्तत: दी ही नहीं जा सकती। उसने इसको इस उदाहरण के द्वारा समझाने की कोशिश की थी कि अगर कोई कहे कि 'सुख शुभ है' या 'प्रेयस् श्रेयस् है' तो वह यह नहीं कह रहा है कि 'प्रेयस् प्रेयस् है', क्योंकि इस दूसरी बात की सत्यता के बारे में तो कभी भी कोई प्रश्न

उठ ही नहीं सकता, जबकि पहले वाक्य की सत्यता के बारे में हमेशा प्रश्न उठाया जा सकता है कि 'क्या प्रेयस् वास्तव में श्रेयस् है?' जिसका अर्थ यह कभी नहीं हो सकता कि वह यह पूछ रहा है कि 'क्या प्रेयस् वास्तव में प्रेयस् है?'

मूर के इस सीधे-साधे तर्क ने आधुनिक नीतिशास्त्र सम्बन्धी चिन्तन को एक ऐसी दिशा दी जिसकी विस्तार से चर्चा हम यहाँ नहीं करेंगे। एक तरह से किसी वस्तु के या किसी कर्म के उन सभी गुणों का वर्णन करना जो उसमें पाये जा सकते हैं और फिर यह कहना कि वह वस्तु या वह कर्म ठीक है, शुभ है, सुन्दर है, यानि जिसको 'स्वयं में शुभ' या 'स्वयं में मूल्यवान्' कहते हैं, तो उन दो बातों में क्या कोई भेद होना ज़रूरी है? मूर के अनुसार भेद होना चाहिए वरना उन सभी समन्वित गुणों के बारे में यह कहना कि उनका समन्वित रूप उस वस्तु या कर्म को शुभ बनाता है, का केवल यही अर्थ होगा कि उनमें वे गुण विद्यमान हैं जिनके आधार पर हम उनको ठीक, शुभ या सुन्दर कहते हैं।

यह बात एक तरह से उन सारे गुणों के सम्बन्ध में लागू होती है जो आश्रित गुण (सेकंड्री क्वालिटीज़) के नाम से जाने जाते हैं। या जो एक ओर रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि में गृहीत होते हैं और दूसरे सत्य, शिव, सुन्दर आदि में।

यही बात रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि, यानि जिनको लॉक ने आश्रित गुण कहा था, उनके उन सम्बन्धों के बारे में उठायी जा सकती है जो उनका मूल गुणों (प्राइमरी क्वालिटीज) से है। मूल गुणों का अर्थ साधारणत: परिमाणात्मक गुणों से होता है जो लॉक के अनुसार मनुष्य की चेतना से स्वतन्त्र हैं, परन्तु जो विज्ञान के अनुसार इन्द्रिय-प्रदत्त गुणों के आधार हैं। अब जो बात मूर ने शुभ की परिभाषा के सम्बन्ध में उठायी थी वह रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि के बारे में भी उठायी जा सकती है, क्योंकि उनकी 'परिभाषा' भी परिमाणात्मक गुणों की पदावली में दी जा सकती है, क्योंकि वे दोनों एक ही बात कहती हैं। और अगर उनमें भेद करना है तो फिर यह मानना पड़ेगा कि विज्ञान की बात ग़लत है, क्योंकि उनकी परिभाषा (रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि की) उन (परिमाणात्मक गुणों) की पदावली में दी ही नहीं जा सकती। मूर ने यह बात पीले रंग के बारे में कही थी और उसे अपरिभाषेय बताया था। उसके अनुसार यह अपरिभाषेयता उसी प्रकार की है जिसकी स्थापना उसने शुभ के सम्बन्ध में की थी, हालांकि मूर के व्याख्याकारों ने उस पर अधिक ध्यान नहीं दिया। वास्तव में जैसा हमने पहले कहा है, मूर की मूल बात परिभाषा के बारे में है न कि शुभ की परिभाषा के बारे में, और अगर मूर के तर्क पर गहराई से सोचें तो यह पता लगेगा कि उसका तर्क मानने पर शायद ही कोई चीज़ परिभाषेय रहेगी, यानि किसी भी 'चीज़' या 'प्रत्यय' की परिभाषा हो ही नहीं सकती। मूर ने इस संदर्भ में मिश्र और सरल गुणों में भेद किया है और यह कहने की कोशिश की है कि पहली तरह के गुण परिभाषित किये जा सकते हैं जबकि दूसरी तरह के गुणों की परिभाषा सिद्धान्तत: हो ही नहीं सकती।

मूर के इस भेद पर हम यहाँ विचार नहीं करेंगे, बल्कि कुछ ऐसे अन्य तर्कों की ओर ध्यान देंगे जो मूर के तर्क की ही तरह अन्य संदर्भों में दिये गये हैं।

भारतीय चिन्तन में इस प्रकार का तर्क कौत्स ऋषि ने दिया था और वह वेदों की अर्थवत्ता के संदर्भ में था। ईसा के छः-सात सौ वर्ष पूर्व यह तर्क दिया गया था और यास्क के ग्रन्थ निरुक्त में इसका उल्लेख है। वेदों के मंत्रों के बारे में यह कहा जाता था कि उनको किसी भी अन्य प्रकार से कहा ही नहीं जा सकता क्योंकि वे अपने-आप में स्वयं संपूर्ण हैं, उनकी स्वरानुपूर्वी, वर्णानुपूर्वी और शब्दानुपूर्वी में ज़रा सा भी फर्क या परिवर्तन नहीं किया जा सकता क्योंकि ऐसा करने पर उनकी अर्थवत्ता ही नष्ट हो जायेगी, वे पूर्ण रूप से 'अर्थहीन' हो जायेंगे। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि केवल शब्द की ही बात नहीं कही गयी है, वर्ण और उच्चारण की भी बात कही गयी है–मंत्र को लिखने की ही बात नहीं है बल्कि बोलने की भी बात है, उनके उच्चारण में ज़रा सा भी फर्क नहीं होना चाहिए, और अगर फर्क होता है तो मंत्र 'मंत्र' ही नहीं रहता।

कौत्स का तर्क यह था कि अगर ऐसा है तो 'मंत्र' वास्तव में अर्थहीन है, क्योंकि अर्थ होने का 'अर्थ' ही यह होता है कि जो बात जिन शब्दों में कही जा रही है वह अन्य शब्दों में भी कही जा सके। अगर किन्हीं शब्दों के बारे में ऐसा सिद्धान्ततः नहीं हो सकता तो उस कथन को 'अर्थवान्' कहने का क्या अर्थ होगा? क्योंकि अगर कोई किसी बात को कहे और हम यह कहें कि हम आपकी बात नहीं समझे हैं ओर वह फिर उसी बात को उसी तरह बार-बार कहता रहे तो क्या उसको कोई भी कभी 'अर्थवान्' मानेगा?

कौत्स के इस कथन का अर्थ यह है कि 'अर्थवान्' होने की अनिवार्य शर्त यह है कि किसी बात को अन्य प्रकार से भी कहा जा सकता है। अर्थ और भाषा का सम्बन्ध कोई ऐसा नहीं है कि एक अर्थ एक ही प्रकार से अभिव्यक्त हो सके। हम उसी बात को बार-बार समझने की कोशिश करते हैं और यह 'समझ' तभी हो सकती है जब उस बात को कई तरह से कहा जा सकता है।

वैदिक मंत्रों के बारे में जो बात हज़ारों साल पहले कही गयी थी और जिसका कौत्स ने खण्डन किया था वह बात आज के अत्याधुनिक दर्शन में मिले तो क्या किसी को आश्चर्य नहीं होगा? पर अचम्भे की बात तो यह है कि ऐसा हुआ ही नहीं है बल्कि जिसने यह बात कही थी वह कम से कम अमेरिका के दार्शनिकों में सबसे अधिक विख्यात माना जाता है। क्वाइन के प्रसिद्ध लेख 'टू डॉग्माज़ ऑफ एम्पिरिसिज्म' में समानार्थकता की चर्चा है और उस चर्चा का विषय यही है कि क्या पूर्ण रूप से समानार्थक उक्तियाँ या वाक्य हो सकते हैं? दूसरे शब्दो में कहें तो समानार्थकता का अर्थ क्या है? क्वाइन ने समानार्थकता के अर्थ को इस प्रकार परिभाषित किया है कि जो पद या वाक्य समानार्थक हैं उनको एक-दूसरे के स्थान पर हमेशा रखा जा सकता है और उनकी इस प्रकार

'स्थानापन्नता' से पहले पद या वाक्य की सत्यता पर कोई आँच नहीं आती, यानि यदि पहला वाक्य सत्य है तो दूसरा वाक्य भी सत्य होगा।

'सत्यता' की बात करते ही वाक्यों की परिधि सिमट जाती है और केवल उन्हीं वाक्यों तक सीमित हो जाती है जिनकी 'सत्यता' या 'असत्यता' की बात की जा सकती है। क्वाइन की इस बात पर किसी ने ध्यान नहीं दिया है। क्वाइन सब वाक्यों की समानार्थकता की बात नहीं कर रहा है–वह तो केवल उन वाक्यों की बात कर रहा है जिनके बारे में सत्यता या असत्यता का प्रश्न सार्थक रूप में उठाया जा सकता है और ये वाक्य साधारणतः वर्णनात्मक कहे जाते हैं, यानि वे किसी वस्तुस्थिति या घटना का वर्णन करते हैं।

क्वाइन ने इस संदर्भ में यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि अगर समानार्थकता का यह निकष माना जाये तो कोई भी वाक्य कभी भी पूर्ण रूप से समानार्थक नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसी अवस्था सोची जा सकती है जिसमें स्थानान्तरण से पहले वाक्य की सत्यता पर आँच आती है।

स्थानान्तरण की बात करना एक तरह से अनुवाद की बात करना है और अनुवाद की बात करना ट्रांसलेशन की बात करना है, हालांकि संस्कृत में जिसे 'अनुवाद' कहा जाता है और अंग्रेज़ी में जिसे 'ट्रांसलेशन' कहा जाता है वे एक-दूसरे से पूर्णरूपेण भिन्न हैं। संस्कृत में 'अनुवाद' का अर्थ उसी बात को उसी तरह फिर दुबारा कहना है, जबकि 'ट्रांसलेशन' में यह अर्थ कभी भी नहीं होता। इसलिए शायद मुकुन्द लाठ ने अपनी पुस्तक **स्वीकरण** में 'अनुवाद' शब्द का प्रयोग न करके 'स्वीकरण' शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने यह शब्द राजशेखर की प्रसिद्ध पुस्तक **काव्य मीमांसा** से लिया है और इस शब्द के द्वारा यह बताने की कोशिश की है कि ट्रांसलेशन का अर्थ वह कभी भी नहीं माना जा सकता है जो क्वाइन ने किया है, क्योंकि एक ओर तो क्वाइन का 'लक्षण' केवल एक ही प्रकार के वाक्यों पर सिद्धान्ततः लागू हो सकता है जबकि समानार्थकता की समस्या सभी क्षेत्रों में सभी वाक्यों पर एक ही समान लागू होती है। दूसरी ओर समानार्थकता की बात खाली अभिधेय (रेफरेंस) तक ही सीमित न होकर उससे भी सम्बन्धित है जिसे फ्रेगे ने अभिप्रेतार्थ (सेंस) कहा है, क्योंकि बिना अभिप्राय के अर्थ का प्रश्न ही नहीं उठता। भाषा का सम्बन्ध अभिप्रेतार्थ और अभिधेयार्थ दोनों से होता है और अर्थ की समानता की बात केवल एक ही संदर्भ में नहीं की जा सकती।

क्वाइन के कथन पर हम यहाँ विस्तार से विचार नहीं करना चाहते, लेकिन एक बात कहना चाहते हैं कि अगर क्वाइन वास्तव में समानार्थकता की बात को नहीं मानता तो फिर वह उन हज़ारों पुस्तकों के बारे में क्या कहेगा जो शब्दकोष के नाम से जाने जाते हैं और जिनके उपयोग वह स्वयं कभी न कभी ज़रूर करता होगा। क्वाइन के तर्क के संदर्भ में एक और बात पर ध्यान देना भी ज़रूरी है

क्योंकि उसने भाषा के सम्बन्ध में अपने तर्क को केवल अभिप्रेतार्थ या अभिधेयार्थ तक ही सीमित नहीं किया बल्कि उसके उस स्थूल रूप को भी उसमें समाहित किया है जिसके आधार पर ही भाषा 'भाषा' होती है। शब्द वर्णों से बनते हैं ऐसा सबको पता है, लेकिन कोई भी वर्णों के विशिष्ट समूह को शब्द के उस अर्थ से नहीं जोड़ता जिसको अभिप्राय या अभिधान का नाम दिया जाता है। क्वाइन ने इस बात को स्वीकार नहीं किया, क्योंकि ऐसा लगता है कि वह भाषा के शरीर को भी, उसके प्राण और उसकी आत्मा से अलग नहीं करना चाहता है और अगर भाषा के शरीर को उसका अनिवार्य आवश्यक अंग मान लिया जाये तो एक वर्ण-समूह के स्थान पर दूसरे वर्ण-समूह को रखने पर उस लक्षण की कभी भी रक्षा नहीं हो सकेगी जो उसने समानार्थकता के लिए किया है, क्योंकि दो भिन्न शब्द या पद, जिनके वर्ण-समूह अलग हैं, वे कभी भी समानार्थक नहीं माने जा सकेंगे, चाहे उनका अभिप्राय और अभिधान एक ही हो। लेकिन दो अलग-अलग शब्दों का अभिधान के अर्थ में एक ही अर्थ होने पर अभिप्राय के अर्थ में एक ही अर्थ कभी नहीं हो सकता। क्वाइन ने इसकी चर्चा नहीं की है, लेकिन फ्रेगे ने इनमें जो भेद किया है और जिसके लिए वह दर्शन के इतिहास में प्रसिद्ध है, उसकी ओर इस चर्चा के संदर्भ में ध्यान देना ज़रूरी है।

फ्रेगे ने यह भेद इस आधार पर किया था कि जहाँ एक ओर शब्द, शब्द-समूह और वाक्य उस 'वस्तु' या वस्तुस्थिति की ओर निर्देश करते हैं जिसके बारे में वे कुछ कहते हैं या जिसकी ओर संकेत करते हैं, वहीं दूसरी ओर वे उन अर्थों के संसार को भी सूचित करते हैं जो हमारे अपने भाव-जगत् से सम्बन्धित है लेकिन जो केवल किसी विशिष्ट व्यक्ति के 'भाव' तक ही सीमित न होकर उस भाषा के सभी जानने वालों के लिए सार्थक होता है और अपने प्रयोग द्वारा एक भाव-जगत् की संरचना भी करता है और उसकी ओर संकेत भी करता है। फ्रेगे ने स्वयं इस भेद को पूरी तरह नहीं समझा था, क्योंकि उसका ध्यान केवल स्थूल सत्य की समस्या तक ही सीमित था।

यह बात शायद कुछ अधिक स्पष्ट प्रतीत होने लगेगी अगर हम फ्रेगे के उस उदाहरण की ओर ध्यान दें जिसके द्वारा उसने इस भेद को समझाने की कोशिश की थी। फ्रेगे ने कहा था कि 'भोर का तारा ही सन्ध्या का तारा है' इस वाक्य में 'भोर का तारा' और 'सन्ध्या का तारा' एक ही चीज की ओर संकेत करते हैं, हालांकि इनके 'अर्थ' भिन्न-भिन्न हैं। दोनों उस ग्रह की ओर संकेत करते हैं जो शुक्र के नाम से जाना जाता है और जो आसमान में शाम को भी दिखाई देता है और सुबह भी। यह ग्रह इतनी खूबसूरती से चमकता है कि देखने वाले का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट हुए बिना नहीं रहता और पश्चिमी परम्परा में तो यह 'वीनस' के नाम से जाना जाता है जो मनुष्य को हमेशा प्रेम या शृंगार का स्मरण कराता है। वैसे भी यह तारा अपने आप में सुन्दर है और मनुष्य में हज़ारों भावनाएँ सहज

रूप में जगाता है। लेकिन फ्रेगे का ध्यान इन सब बातों पर नहीं था, क्योंकि अगर होता तो उसके सामने 'वीनस' शब्द के सम्बन्ध में भी वही समस्याएँ उठतीं जो 'भोर का तारा' और 'सन्ध्या का तारा' के बारे में उठी थीं। हाँ, एक भेद अवश्य रहता, क्योंकि पहले में केवल एक ही शब्द है जबकि दूसरे में दो अलग-अलग दिखाई देने वाले शब्द हैं जिनका संकेत एक ही वस्तु की ओर है।

फ्रेगे के सामने दो अलग-अलग समस्याएँ थीं जिनमें वह भेद नहीं कर पाया था। एक समस्या यह थी कि ये दो अलग-अलग दिखने वाले शब्द वास्तव में एक ही वस्तु की ओर संकेत करते हैं लेकिन अगर हमें यह पता न हो तो हमारे लिए अलग-अलग वस्तुओं का ही निर्देश करेंगे, और जब हमें यह पता चलेगा कि वास्तव में ये दो अलग-अलग शब्द-चिह्नों का निर्देश 'एक' ही है तो हमारे ज्ञान में एक अजीब तरह की वृद्धि होगी जिसको तभी समझा जा सकता है जब हम फ्रेगे के बताये हुए भेद को अच्छी तरह समझें और आत्मसात् करें। दूसरी ओर उसके सामने यह समस्या थी कि ऐसा समझने पर भी इन दो शब्द-चिह्नों में भेद तो रहेगा और वह भेद केवल उनके 'वर्ण-समूह' के सम्बन्ध में ही नहीं होगा, बल्कि अर्थ से भी सम्बन्धित रहेगा। अब, अगर ऐसा है तो फिर इन अर्थों में जो एक-दूसरे से भिन्न हैं और उस 'निर्देश' में जो एक ही है, क्या भेद होगा? भेद उस सब 'भाव-जगत्' से सम्बन्धित है जो फ्रेगे के उदाहरण में 'सुबह' और 'शाम' से इस तरह सम्बन्धित है कि वह उनसे अलग किया ही नहीं जा सकता।

लेकिन यह बात सिर्फ 'भोर का तारा' या 'सन्ध्या का तारा' के बारे में ही नहीं है, यह उसके बारे में भी है जिसे हम 'वीनस' कहते हैं और जो एक तरह से उन दोनों शब्द-समूहों ('भोर का तारा' तथा 'सन्ध्या का तारा') का निर्देश है। यह समस्या कुछ भिन्न है क्योंकि यह उस बात की ओर संकेत करती है जिसकी ओर फ्रेगे ने ध्यान नहीं दिया। वह बात यह है कि शब्द कोई भी हो उसमें हमेशा अभिप्राय और अभिधान का भेद रहेगा। यह बात उन शब्दों के बारे में भी सही है जिनका अपना अभिधान कोई अभिप्राय होता है, क्योंकि तब उस अभिप्राय में, जिसने अब अभिधान का रूप ले लिया है और उस अभिप्राय में जिसने वह रूप नहीं लिया है, वह भेद नये रूप में विद्यमान है। मनोविज्ञान से सम्बन्धित बहुत से शब्द इसी प्रकार के हैं, और वे शब्द जिनका भाव-जगत् से सम्बन्ध है, उनमें तो यह उससे भी अधिक स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। लेकिन अगर यह बात ठीक है तो अभिप्राय और अभिधान का भेद सापेक्ष है–जो एक संदर्भ में अभिप्राय है वही दूसरे संदर्भ में अभिधान हो सकता है और जो अभिधेय है वह स्वयं अभिप्राय का रूप ले सकता है।

भाषा की यह समस्या जिस बात से उत्पन्न होती है उसकी ओर किसी ने अधिक ध्यान नहीं दिया। वह बात यह है कि भाषा का अपना कोई 'स्वरूप' ही नहीं होता, उसका अपना कोई 'सत्त्व' नहीं है। और जिसका न स्वरूप हो, न सत्त्व

हो उसकी सत्ता कैसे हो सकती है? पर जिसका न 'स्वरूप' है, न 'सत्त्व' है, न 'सत्ता' है वह यह सब न रखते हुए भी अर्थवान् है और मानवीय जगत् को संरचित करता है, क्योंकि मनुष्य की 'सत्ता' बिना भाषा के समझी ही नहीं जा सकती। पशु-जगत् में या प्राणि-जगत् मात्र में 'भाषा' होती है या नहीं, यह कहना कठिन है लेकिन जहाँ तक मनुष्य की सत्ता का सवाल है वहाँ इसके बारे में दो राय हो ही नहीं सकती कि भाषा के बिना न मनुष्य हो सकता है और न मनुष्य के बिना 'भाषा'। इस आत्म-विरोधाभासी रहस्य का मूल उस 'आत्मचेतना' में है जिसके बिना मनुष्य की सत्ता को परिभाषित ही नहीं किया जा सकता। जो लोग उस चेतना को, किसी भी कारणवश, अस्वीकार करते हैं उन्हें भाषा को अस्वीकार करना पड़ेगा और मनुष्य को भी।

दार्शनिकों के तर्क अजीब होते हैं, इसके कई उदाहरण हम पहले दे चुके हैं। एक और उदाहरण गिलबर्ट राइल में मिलता है। उसका तर्क वाक्य की 'सार्थकता' और 'निरर्थकता' को मान कर चलता है। आधुनिक पश्चिमी दर्शन में एक समय इस भेद का बहुत महत्त्व था। क्योंकि जो वाक्य निरर्थक है उसकी सत्यता या असत्यता के बारे में बात करना फिजूल है, समय बर्बाद करना है। किन्तु इन दार्शनिकों के अनुसार, दार्शनिक हज़ारों साल से यह करते रहे हैं। ये वाक्य जिनका कोई अर्थ न है न हो सकता है, वे वास्तव में वाक्य हैं ही नहीं, वे तो वाक्य के आभास मात्र हैं, जिनको वाक्य समझकर दार्शनिक लोग हज़ारों सालों से धोखा खा रहे हैं। लेकिन ऐसा मानने पर 'अर्थवान्' होने का कोई लक्षण तो बताना ही पड़ेगा! और आधुनिक दर्शन का एक बहुत बड़ा भाग इस प्रश्न के परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है। अर्थ की कसौटी क्या हो, इसका एक उत्तर तो यह दिया गया था कि अगर वाक्य 'अर्थपूर्ण' है तो सिद्धान्ततः उसकी सत्यता या असत्यता सिद्ध करने का कोई न कोई तरीका होना चाहिए, और सत्य या असत्य सिद्ध होने के लिए कम से कम कोई ऐसी वस्तुस्थिति का निर्देश होना चाहिए जिसके घटित होने पर उस वाक्य को हम सत्य या असत्य ठहरायेंगे। इसको अर्थ का प्रमाणीकरण-सिद्धान्त कहा जाता है।

बाद में सत्यता और असत्यता के निर्धारण में मूलभूत भेद किया जाने लगा और प्रसिद्ध दार्शनिक कार्ल पॉपर के अनुसार किसी वाक्य की अर्थवत्ता केवल इसी से निर्धारित हो सकती है कि उसको असत्य सिद्ध किया जा सके। इसे अर्थ का असत्यापन सिद्धान्त कहा जाता है। इसके मूल में पॉपर का तर्क यह था कि अगर हम वाक्य के सत्यापन की बात करें तो उसमें एक तार्किक दोष है और वह तार्किक दोष वास्तव में उस प्रक्रिया में भी परिलक्षित होता है जिसके अनुसार हम किसी वाक्य की 'सत्यता' निश्चित करने की कोशिश करते हैं। उस तर्क का साधारण रूप यह है कि यदि कोई बात सत्य है तो ऐसी 'वस्तुस्थिति' घटित होनी चाहिए। ऐसी वस्तुस्थिति घटित होती है, इसलिए यह बात सत्य है। यह तर्क

स्पष्टतः ग़लत है क्योंकि इसमें दोष है जिसे निष्कर्ष को पूर्वसिद्ध मानना कहा जाता है। उसके अनुसार अगर हम इस तार्किक दोष से बचना चाहते हैं तो हमको इसके उस रूप को स्वीकार करना पड़ेगा जिससे वह इस दोष से मुक्त है, और यह रूप सर्वविदित है। तर्क का जो इस तार्किक दोष से मुक्त स्वरूप है, इस प्रकार का है-यदि कोई बात सत्य है तो ऐसी 'वस्तुस्थिति' घटित होनी चाहिए। ऐसी वस्तुस्थिति घटित नहीं हुई अतः ऐसी बात सत्य नहीं है।

वाक्यों के सदंर्भ में अर्थवत्ता के प्रश्न ने एक नयी दार्शनिक समस्या को जन्म दिया और वह दार्शनिक समस्या यह थी कि ऐसा हो सकता है कि सब तरह से 'सही' दिखने वाले वाक्य वास्तव में वाक्य हो ही नहीं। इससे बड़ा 'माया' का उदाहरण और क्या हो सकता था? व्याकरण की दृष्टि से वाक्य 'वाक्य' दिखाई देता है, प्रतीत होता है, परन्तु दार्शनिक दृष्टि से हम उसको 'वाक्य' मानना ठीक नहीं मानते। इससे बड़ी विडम्बना क्या हो सकती है?

राइल ने इस समस्या को एक नयी तरह से सुलझाने की कोशिश की और यह कहा कि हर वाक्य में किसी चीज़ के बारे में कुछ कहा जाता है। अब, अगर हम इस बात पर ध्यान दें कि किस चीज़ के बारे में क्या कहा जा रहा है तो शायद हमें वाक्य के 'अर्थवान्' होने के सम्बन्ध में एक नयी 'कसौटी' प्राप्त हो सके। इसके सदंर्भ में उसने दो विकल्प प्रस्तुत किये-एक यह कि हम जिस चीज़ के बारे में बात कर रहे हैं उस चीज़ को वैसा ही रखें, लेकिन उसके बारे में जो कह रहे हैं उसमें सतत् परिवर्तन करते जायें। ऐसा करने पर एक ऐसा बिन्दु आयेगा जहाँ हमको यह स्पष्ट आभास होगा कि अब वाक्य कुछ अजीब तरह का होने लगा है, यानि अब उसकी सत्यता या असत्यता का प्रश्न करना कठिन है। क्योंकि जो बात हम वस्तु के बारे में कह रहे हैं, वह उस के बारे में सार्थक रूप से कही ही नहीं जा सकती। दूसरे अर्थों में, उस वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है कि उसके बारे में उस प्रकार की बात कहने का कोई अर्थ ही नहीं है। और अगर अर्थ नहीं है तो फिर सत्यता-असत्यता की बात करने का क्या मतलब होगा?

यह बात एक उदाहरण से आसानी से समझी जा सकती है। अगर हम कहें 'गुलाब का फूल लाल है' तो इसके बारे में कोई समस्या नहीं उठती, लेकिन अगर हम यह कहें कि 'गुलाब का फूल ईमानदार है' तो हम परेशानी में पड़ जायेंगे कि आख़िर ईमानदार होना तो आदमियों के लिए कहा जाता है, फूलों के लिए नहीं। इसी तरह का एक उदाहरण और लें-अगर हम कहते हैं कि 'मेज़ टूट गयी है' तो बात सभी को आसानी से समझ में आती है, लेकिन अगर हम कहें कि 'मेज़ मर गयी' तो सब लोग हमारी तरफ देखने लगेंगे कि इन्हें क्या हो गया। आदमी मरते हैं, जानवर मरते हैं, पर कहीं मेज़ मरती है? मेज़ के बारे में यह कहना कि वह 'ज़िंदा' है या 'मर' गयी है, बेमानी है। इसलिए व्याकरण की दृष्टि से यह वाक्य चाहे वाक्य हो किन्तु वास्तव में यह वाक्य नहीं है।

इसी का दूसरा विकल्प उसने इस प्रकार प्रस्तुत किया कि हम जो बात किसी के बारे में कह रहे हैं उसको वैसा ही रखें और जिसके बारे में कह रहे हैं उसमें परिवर्तन करते जायें। ऐसा करने पर हमें एक बिन्दु पर ऐसा लगेगा कि अब हम जिसके बारे में जो बात कह रहे हैं वह पहले सार्थक लगती थी पर अब वह निरर्थक लगने लगी है। इसका उदाहरण हम उसी तरह बना सकते हैं जैसा कि पहले बनाया था। हमने कहा था 'गुलाब का फूल लाल है' और फिर 'लाल' में परिवर्तन किया था। अब हम लाल होने को रख लेते हैं और जिन चीज़ों के बारे में हम यह कहते हैं कि वे लाल हैं उनमें सतत् परिवर्तन करते हैं। ऐसा परिवर्तन करने पर हमारे सामने कुछ उदाहरण ऐसे ज़रूर आयेंगे जिनके बारे में हमें ऐसा लगेगा कि यहाँ इनके संदर्भ में यह कहना कि ये लाल हैं या लाल नहीं हैं, दोनों निरर्थक हैं। जैसे, अगर कोई कहे कि 'कागज़ लाल है' तो इसकी अर्थवत्ता के बारे में किसी के सामने कोई सवाल कभी नहीं उठेगा। लेकिन अगर कोई यह कहे कि 'ईमानदारी लाल है' तो इसे कोई भी अर्थवान् मानने के लिए तैयार नहीं होगा।

अब हम राइल के दोनों विकल्पों को एक साथ लें तो राइल के कथन को इस प्रकार समझ सकते हैं कि जैसे ही हम किसी भी विशिष्ट गुण की बात करते हैं तो एकदम संसार दो भागों में विभक्त हो जाता है, एक उन वस्तुओं का जिनके संदर्भ में यह कहना कि उनमें यह विशिष्ट गुण पाया जाता है या नहीं पाया जाता है, सार्थक है। इसके विपरीत वे सब वस्तुएँ हैं जिनके बारे में यह कहना कि उनमें वह गुण विद्यमान है, या विद्यमान नहीं है, पूर्ण रूप से अर्थ-हीन है। इसी प्रकार किसी भी वस्तु को लें तो उसके संदर्भ में गुण भी सापेक्ष होने लगते हैं और अपने को दो भागों में बाँट लेते हैं। एक वह जो अपने वाचक शब्दों के द्वारा निर्मित वाक्यों को सार्थक बनाते हैं और दूसरे वे जो उनको अर्थ-शून्य बना देते हैं। दोनों हालतों में दूसरी तरह के वाक्य वास्तव में वाक्य हैं ही नहीं, केवल वाक्य का 'मुखौटा' पहनकर सबको धोखा देते हैं। दार्शनिक भी हज़ारों सालों से इन वाक्यों के धोखे में आकर दार्शनिक उलझनों के जाल में फँसते रहे हैं और उन उलझनों को सुलझाने की प्रक्रिया को 'दर्शन' का नाम देते रहे हैं।

दार्शनिकों के तर्कों के कुछ उदाहरण हमने ऊपर दिये हैं। इनके अलावा और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। अगर कोई इनकी नब्ज़ एक बार पहचान ले तो स्वयं इनको पहचान सकता है, इनका पता लगा सकता है। लेकिन इनका वास्तव में स्वरूप क्या है, ये कैसे उत्पन्न होते हैं और मनुष्य को किन-किन बौद्धिक उलझनों में डालते हैं, इसका ब्यौरा देना मुश्किल है। लेकिन शायद दर्शन का 'स्वरूप' ही यह है कि वह इस प्रकार की तर्क-बुद्धि से उत्पन्न होता है और इनको सुलझाने में ही अपने को सार्थक मानता है। ❑

पश्चिमी दर्शन के दो परस्पर विरोधी मूल स्रोत : ग्रीस का बुद्धि केन्द्रित चिन्तन और ईसाई धर्म की आस्था केन्द्रित मान्यताएँ

दर्शन का इतिहास दो भिन्न धाराओं में बँटा प्रतीत होता है। एक वह जो ग्रीस से शुरू होकर आधुनिक पश्चिमी राष्ट्रों और उनसे प्रभावित क्षेत्रों में फैली है और दूसरी जो वेद और उपनिषदों से शुरू होकर भारत की भूमि में आज भी किसी हद तक विद्यमान है। इन दो प्रमुख धाराओं के अलावा एक अन्य धारा भी दृष्टिगोचर होती है जिसके प्रवर्तक कन्फ्यूशिस और लाओत्से समझे जाते हैं। परन्तु इस तीसरी धारा का इतना बलवती न होना इसके बौद्धिक चिन्तन का वह रूप है जिसके आधार पर आज दर्शन की परिभाषा दी जाती है। किसी विशिष्ट परम्परा के होने के लिए यह आवश्यक है कि उसके मूल में कोई ऐसी महान् और समग्र दृष्टि हो जो उसको निरन्तर सींचती रहे और कम से कम संस्कृति के क्षेत्र में यह भी इतना ही आवश्यक है कि उस परम्परा का अन्य परम्पराओं से कोई अधिक गहरा सम्बन्ध न रहा है। वैशिष्ट्य के लिए इस प्रकार दो चीजों की आवश्यकता होती है। एक परम्परा, दूसरी अलगाव। आज के युग में संस्कृतियाँ एक-दूसरे के सम्मुख खड़ी हैं और जहाँ वे कुछ एक-दूसरे में समान बातें पाती हैं, वहाँ उनको एक दूसरे के वैशिष्ट्य पर भी आश्चर्य होता है।

पश्चिमी दार्शनिक परम्परा का मूल स्रोत एजियन समुद्र के किनारे के वे द्वीप हैं, जो 'एजियन आइलैण्ड्स' के नाम से पुकारे जाते हैं और उसकी मूल दृष्टि उस बौद्धिक अनुभूति में है जो गणित के ज्ञान को आदर्श के रूप में देखती है। गणित को ज्ञान का आदर्श इसलिए माना जाता है कि उसके निष्कर्ष पूर्णतया असंदिग्ध और, इसीलिए, सार्वभौम होते हैं। इसके साथ ही साथ वे शुद्ध बुद्धि ग्राह्य हैं और जो इन्द्रियों से ज्ञात जगत् है उस पर अनिवार्यत: लागू होते हैं। गणित की इन चार विशेषताओं ने पश्चिम की दार्शनिक बुद्धि को शुरू से ही प्रभावित किया है क्योंकि ज्ञान की जिज्ञासा का लक्ष्य भी प्राय: ऐसे ही ज्ञान में माना जाता है जो